जनसत्ता

जाति का दंश

जब भी समाज में जातिगत भेदभाव की वजह से कमजोर जातियों के लोगों पर जुल्म ढहाने को लेकर सवाल उठाया जाता है तो ऐसी घटनाओं को इक्का-दुक्का बता कर उनकी अनदेखी करने की कोशिश की जाती है। लेकिन आज भी अगर सिर्फ उच्च कही जाने वाली जातियों के बराबर बैठ कर खाना खाने की वजह से किसी दलित युवक को पीट-पीट कर मार डाला जाता है तब समझ में आता है कि हमारा समाज व्यवहार में अभी भी किन सामंती और पिछड़े मूल्यों को ढो रहा है। गौरतलब है कि उत्तराखंड में टिहरी जिले की नैनबाग तहसील में आयोजित एक विवाह समारोह में आमंत्रित लोग खाना खा रहे थे। वहीं एक दलित युवक जितेंद्र दास ने भी खाना लिया और कुर्सी पर बैठ कर खाने लगा। उसी भोज में खाना खा रहे उच्च कही जाने वाली जातियों के कुछ लोगों ने सिर्फ इसलिए जितेंद्र को बेरहमी से मारा-पीटा कि उसने उनके सामने कुर्सी पर बैठ कर खाने की हिम्मत कैसे की! जिस दौर में देश में आधुनिकता और विकास के नए कीर्तिमान कायम करने का दावा किया जा रहा है, उसमें ऐसी घटना पर कई बार यकीन करना मुश्किल हो जाता है। मगर आज भी दलितों के खिलाफ जातिगत हिंसा का सच बेहद तकलीफदेह और शर्मनाक है।

सवाल है कि आखिर किस वजह से कुछ लोगों को इस बात से परेशानी हो गई कि एक दलित युवक उनके सामने कुर्सी पर बैठ कर खाना खा रहा है? क्या यहां कारण सिर्फ यह नहीं है कि समाज में मौजूद जाति-व्यवस्था में कुछ लोगों को उच्च और कुछ को निम्न दर्जे का माना जाता है और इसी मुताबिक सामाजिक व्यवहार भी निर्धारित किए गए हैं? इस सच को स्वीकार करना कुछ लोगों के लिए क्यों नहीं संभव हो पा रहा है कि मनुष्य के रूप में जन्म लेने वाले सभी की हैसियत हर स्तर पर बराबर है? महज किसी जाति में पैदा होने के आधार पर खुद को श्रेष्ठ और किसी को निम्न मानना क्या एक तरह की मानसिक बीमारी नहीं है, जिसके शिकार लोग अपने से कम दर्जे पर माने जाने वालों के साथ अक्सर अमानवीयता की हद भी पार कर जाते हैं? कायदे से किसी कमजोर जातिगत पृष्ठभूमि से आने वाले व्यक्ति को बराबरी के स्तर पर लाने की कोशिश समर्थ तबकों को अपनी ओर से करनी चाहिए। मगर इसके उलट दलित-वंचित जातियों के लोगों के आगे बढ़ने, सक्षम होने या बराबरी के स्तर पर दिखने पर उच्च कही जाने वाली जातियों के लोगों के भीतर श्रेष्ठता की कुंठा क्यों हावी हो जाती है? इस कुंठा से उपजी हिंसा व्यक्ति को सिर्फ अमानवीय बना सकती है। खुद को सभ्य और संवेदनशील मानने वाला कोई भी इंसान इस पहचान से शर्मिंदा होगा।

विडंबना यह है कि हमारे देश में विकास की चकाचौंध में सारा जोर भौतिक निर्माण पर रहा है और सामाजिक विकास नीतियों पर गौर करने की जरूरत कभी नहीं समझी गई। जब तक जाति-व्यवस्था और इससे संचालित सामाजिक मनोविज्ञान को केंद्र में रख कर इससे छुटकारे का रास्ता नहीं निकाला जाएगा, तब तक समाज में जाति-आधारित हिंसा की बीमारी की जड़ों को कमजोर करना मुश्किल होगा। भारत की आजादी और जनतंत्र की घोषणा के बाद उम्मीद थी कि देश की इस सबसे बड़ी सामाजिक समस्या के बंधन ढीले होंगे, इसके जरिए कायम भेदभाव कम होकर खत्म भी होंगे। लेकिन आज भी अगर दलितों या कमजोर जातियों के लोगों को भेदभाव से भी आगे अत्याचार और जातिगत अपराधों के चलते जान गंवानी पड़ रही है तो यह सोचने का वक्त है कि सामाजिक विकास के इतने लंबे सफर में हमारा हासिल इतना अफसोसनाक क्यों है!

नशे का दलदल

दिल्ली और आसपास के इलाकों में अक्सर चलने वाली रेव पार्टियों से यही लगता है कि हमारे किशोर और नौजवान किस तरह नशे के सौदागरों के जाल में फंस चुके हैं। दिल्ली के बाहरी इलाकों में स्थित ज्यादातर फार्म हाउस, होटल, रेस्टोरेंट रात भर चलने वाली ऐसी पार्टियों के ठिकाने बने हुए हैं। सबसे ज्यादा चिंताजनक पहलू तो यह है कि रेव पार्टियों के इस कारोबार को पुलिस का भी संरक्षण हासिल होता है। पहले तो पुणे, मुंबई जैसे महानगर और गोवा जैसे तटीय पर्यटन स्थल ही इन पार्टियों के लिए बदनाम थे, लेकिन पिछले कुछ सालों के भीतर दिल्ली और एनसीआर में ऐसी पार्टियों का चलन तेजी से बढ़ा है। तीन दिन पहले ही नोएडा के एक इलाके में रेव पार्टी पर छापा मार कर पुलिस ने एक सौ बानवे लोगों को पकड़ा। इनमें एक सौ इकसठ नौजवान और इकतीस युवतियां शामिल थीं। नौजवानों का मनोरंजन करने के लिए किराए पर अन्य एजेंसियों से युवतियों को बुलाया गया था। इस पार्टी में शराब के अलावा हुक्के, तंबाकू, स्मोकर कोल व अन्य नशीली चीजें भी मिलीं। दिल्ली में आए दिन तस्करी करके लाए गए मादक पदार्थों की खेपों का पकड़ा जाना बताता है कि एनसीआर नशीली दवाओं के कारोबार के केंद्र में तब्दील हो चुका है।

यह वाकई चिंताजनक है कि रेव पार्टियां एक बड़े संरक्षित कारोबार का रूप ले चुकी हैं। इनके पीछे मादक पदार्थों का धंधा करने वालों का एक बड़ा नेटवर्क काम करता है, यह किसी से छिपा नहीं है। बिना पुलिस की मिलीभगत से ऐसे धंधे नहीं चल नहीं सकते। तो फिर रेव पार्टियों के धंधे को फलने-फूलने से कौन रोक पाएगा? ऐसी पार्टियों के लिए सोशल मीडिया और खास एजेंटों के जरिए ग्राहकों को फंसाया जाता है। इनमें सबसे बड़ा वर्ग नौजवानों और खासतौर से उन छात्रों का होता है जो अमीर घरों से आते हैं और अपने शौक, मौजमस्ती पर भारी रकम खर्च करने से कोई परहेज नहीं करते। रेव पार्टी में शामिल होने लिए खासी मोटी रकम, जो दस हजार से लेकर पचास हजार और इससे भी ज्यादा होती है, वसूली जाती है। बाजार से कई गुना ज्यादा कीमत पर नशीले पदार्थ बेचे जाते हैं। कारोबारी और रसूखदार लोग भी ऐसी पार्टियों के ग्राहक होते हैं। ऐसे में रेव पार्टियों पर कार्रवाई करना मुश्किल हो जाता है। कभी-कभार पुलिस छापों की ऐसी कार्रवाई का दिखावा करती है तो इसका मकसद यही होता है कि वह सतर्क है। लेकिन हकीकत तो कुछ और कहती है।

दरअसल, रेव पार्टियों को लेकर सबसे ज्यादा कठघरे में तो पुलिस ही है, जिसके पास शक्तियों की कोई कमी नहीं है। लेकिन पूरे एनसीआर में जिस तरह ऐसी खास मनोरंजक पार्टियों का बेखौफ धंधा चल रहा है, वह पुलिस की मेहरबानी से ही चल रहा है। सवाल है कि क्या पुलिस को मादक पदार्थों का धंधा करने वालों के बारे में पता नहीं होता? क्या पुलिस इस बात से अनजान रहती है कि कहां पार्टी चल रही है? अगर ऐसा है तो यह पुलिस की कार्यप्रणाली पर ही सबसे बड़ा सवालिया निशान है। आमतौर पर यह धारणा है और काफी हद तक सच्चाई भी कि अवैध कारोबार बिना पुलिस की मर्जी के नहीं चल पाते। सारे अवैध कारोबारों में, चाहे वे रेव पार्टी चलाने वाले हों या नशीली दवाओं की आपूर्ति करने वाले या फिर अन्य गैरकानूनी काम करने वाले, सब पुलिस को हिस्सा देते हैं। ऐसे में न सिर्फ ये धंधे पनपेंगे, बल्कि नौजवानों को भी तबाह करेंगे। सोचने की जरूरत यह है कि ऐसी रेव पार्टियों के असर की अनदेखी के समांतर हमारी एक समूची पीढ़ी कहां जाएगी!

कल्पमेधा

हमारी कुछ दुर्बलताएं जन्म से होती हैं और कुछ शिक्षा का नतीजा हैं। प्रश्न है कि इनमें से कौन हमें अधिक कष्ट देती हैं।

-गेटे

व्यक्तित्व परिवर्तन का मार्ग

जगमोहन सिंह राजपूत

पीटर मारित्ज्बुर्ग का प्रकरण और उसके बाद का गांधी का जीवन मार्टिन लूथर किंग और नेल्सन मंडेला जैसों को प्रभावित कर गया तो क्या यह अपेक्षा नहीं की जा सकती है कि भारत के कुछ नए सांसद, जन प्रतिनिधि और नेता व्यक्ति मात्र बने रहने से ऊंचा उठ कर अपने को व्यक्तित्व में परिवर्तित करने का प्रयास सफलतापूर्वक करेंगे?

भारत का जनतंत्र आगे बढ़ रहा है। सत्रहवीं बार देश नई लोकसभा चुन रहा है। सन 1947 के बाद जन्मे लोग अब देश चला रहे हैं। लगभग सभी का अनुभव है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले की राजनीति, आंदोलन और नेतृत्व जिन मूल्यों से ओत-प्रोत थे, वे अब नेपथ्य में चले गए हैं। स्वतंत्रता संग्राम के जाने-माने नेता अपने त्याग, तपस्या, सेवा और समर्पण भाव के आधार पर ही लोगों के दिलों में अपना स्थान बना सके थे। गांधी के एक आह्वान पर देश रुक जाता था, या चल पड़ता था! नेताजी के एक वाक्य से हजारों लोग आजाद हिंद फौज में आए और बलिदान की नई कहानियां लिख कर शहीद हो गए। अब समय बदल गया है। अपवादों को छोड़ दें, तो नेता अब लोगों की सेवा करके अपना राजनीतिक जीवन प्रारंभ नहीं करते हैं। अधिकांश अपने पिता या माता की राजनीतिक विरासत को संभालाने का जिम्मा ले लेते हैं! वे यह कहने में हिचकते नहीं हैं 'क्योंकि जनता ऐसा चाहती है!' अधिकांश परिवार द्वारा पहले से तैयार किए गए एक सुपुष्ट आर्थिक आधार पर गाजे-बाजे के साथ राजनीति में प्रवेश करते हैं। इधर राजनीति में हेलिकाप्टर प्रवेश का सिलसिला तेजी से आगे बढ़ा है। ग्लैमर से वोट मिलते हैं, लोग चुनाव जीतते हैं और सरकारों में शामिल हो जाते हैं।

पिछले कई चुनावों से एक नई परंपरा बनी है जिसमें खेल जगत और फिल्मों से जुड़े लोगों को अपने साथ शामिल कर राजनीतिक दल धन्य हो जाते हैं। इन भाग्यशाली नामी-गिरामी लोगों को राजनीतिक दल प्रातः पार्टी प्रवेश का जलसा कर शाम को लोकसभा चुनाव लड़ने का टिकट दे देते हैं! नया-ताजा पार्टी सदस्य अपने जनसेवक अवतार में अगले दिन प्रातःकाल से सिखाए-पढ़ाए वायदे करने लगता है। आज की राजनीति और राजनीतिक नेतृत्व 1950-60 जैसा न है, न हो सकता है। परिवर्तन तो अवश्यंभावी है ही, संभवतः मानवीय मूल्यों का पतन भी उसी का भाग बन गया है। वैसे देश में अभी भी एक छोटा वर्ग हर स्तर पर बचा हुआ है जो गांधी, सुभाष बोस, सरदार पटेल, नेहरू, डॉ राजेंद्र प्रसाद, डॉ आंबेडकर जैसों को भूला नहीं है। पटेल और राजेंद्र प्रसाद ने अपनी भारी वकालत छोड़ी, सुभाष बोस ने आइसीएस में सफल होकर भी अंग्रेजों की गुलामी करने से इनकार कर दिया। नेहरू ने वैभवशाली जीवन को छोड़ कर जेल जाने की राह चुनी। इनमें और इन जैसे अनेक के जीवन में वे क्षण कितने महत्त्वपूर्ण रहे होंगे जिन्होंने इनका जीवन दर्शन ही बदल दिया होगा, जब 'व्यक्ति' का 'व्यक्तित्व' में परिवर्तन हुआ होगा। सबसे पहले तो उस युवा मोहनदास गांधी के प्रकरण को याद करना समीचीन होगा जिन्होंने राजनीति, राजनेता और नेतृत्व की परिभाषा और समझ ही बदल दी। वे लोग कैसे इतनी ऊंचाइयां प्राप्त कर सके, यह रहस्य नई पीढ़ी के लोगों के समक्ष उद्घाटित होना ही चाहिए।

पहली बार दक्षिण अफ्रीका पहुंचने पर जब अब्दुल्ला सेठ युवा वकील मोहनदास गांधी को डरबन की अदालत दिखाने ले गए तो मजिस्ट्रेट ने उन्हें पगड़ी उतारने को कहा। गांधी ने पगड़ी नहीं उतारी और कक्ष से बाहर निकल गए। उन्होंने बाद में यह समाधान सोचा कि अगर पगड़ी के स्थान पर अंग्रेजी टॉप पहन लें तो समस्या सुलझ जाएगी। मगर अब्दुल्ला सेठ ने उसे उचित नहीं ठहराया। संवेदनशील युवक मोहनदास ने उनका मंतव्य समझा, उनकी पीड़ा और मजबूरी का अनुमान लगाया और अपना विचार बदल कर उनका सुझाव माना। अपनी समस्या समाचार पत्रों में लिखी, चर्चा हुई, पगड़ी न पहनने के नियम की आलोचना जम कर हुई, और मोहनदास प्रसिद्ध हो गए। गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में इस सब पर विस्तार से लिखा। यह तो प्रारंभ था, जल्दी ही कुछ और भी घटा। जिस घटना ने उनके सोच और जीवन और दर्शन को बदल दिया, वह दक्षिण अफ्रीका पहुंचने के सात-आठ दिन बाद डरबन से रवाना होते समय रेलवे स्टेशन पर घटी। उनके पास पहले दर्जे का टिकट था, वे वहीं बैठे। मगर एक अंग्रेज एक काले आदमी को प्रथम श्रेणी में बैठा देख कर सहन नहीं कर सका। उन्हें वहां से हटाने के लिए कुछ अफसरों को लेकर आया, गांधी को पीछे के डिब्बे में जाने को कहा गया। 'मेरे पास फर्स्ट क्लास का टिकट है' कहने के बाबजूद उनकी बात कोई सुनने को तैयार

नहीं था। बहस हुई, गांधी ने कहा- 'तो फिर सिपाही भले ही उतारे, मैं खुद नहीं जाऊंगा।' उन्हें धक्के देकर उतार दिया गया, ट्रेन चली गई, वे वेटिंग रूम में बैठे रहे और ठंड से कांपते रहे! सोचते रहे क्या करें? वापस लौट जाएं, स्वीकार्य नहीं क्योंकि यह पलायन होगा। विकल्प उभर रहा था, वहीं रुकना और घृणा के महारोग को जड़ से मिटाने का प्रयास करना। अगले दिन किसी ट्रेन से चार्ल्स टाउन पहुंचे, वहां से वे घोड़ा गाड़ी पर आगे की यात्रा पर चले। रास्ते में एक यात्री ने उन्हें अपमानजनक ढंग से अपनी सीट से हटने को कहा और न मानने पर थप्पड़ों की वर्षा करने लगा। गांधी अपने स्थान से हटे नहीं, सहते रहे। कुछ अंग्रेज यात्रियों ने उस बिगड़ैल अंग्रेज को रोका भी, गांधी के पक्ष में बोले भी, मगर वह शायद थक कर ही रुका। गंतव्य पर पहुंच कर गांधी को देख लेने की धमकी देता रहा।

नारायण देसाई अपनी 'गांधी कथा' विधा में गांधी के जीवन काल की इन घटनाओं का अत्यंत सजीव और सशक्त वर्णन करते थे। वे इनका सारतत्त्व भी अत्यंत सरल ढंग से समझा देते थे। घोड़ागाड़ी में जब अहंकारी गोरा मोहनदास को लगातार थप्पड़ मार रहा था, वे सहते जा रहे थे, मगर जिस डंडे को पकड़ रखा था, उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। सहयात्री कह रहे थे कि टिकट है तो उन्हें सही स्थान पर बैठा रहने दो। वह नहीं सुन रहा था, मगर मोहनदास और सुन रहे थे सब अंग्रेज एक से नहीं होते हैं, ज्यादातर अच्छे होते हैं। उस व्यक्ति ने एक नया बहाना ढूंढा- गांधी का टिकट कल का था, अब वैध नहीं है। टिकट तो तीन दिन के लिए वैध था! जब उसका झूठ जाहिर हो गया तो वह और क्रूरता से वार करने लगा! जो व्यक्ति झूठ बोलता है या अन्याय करता है, और जब झूठ पकड़ा जाता है, तब वह अत्यंत भयभीत हो जाता है मगर उसे प्रगट न करने का प्रयास करता रहता है। जो भय- आतंरिक या बाह्य- से ग्रस्त होता है, वह क्रूरता का आश्रय लेता है। भयभीत और अंदर से हारा हुआ व्यक्ति अपने को दिलासा देने के लिए सदा यही कहता है, 'आगे चल कर देख लूंगा'!

दूसरी तरफ मोहनदास का गहन चिंतन पीटर मारित्ज्बुर्ग के वेटिंग रूम से प्रारंभ हो चुका था, आगे के कई दिनों तक घटनाए घटती गईं और मनन जारी रहा। क्या मुझे उसके खिलाफ पुलिस में जाना चाहिए? हो सकता है उसको कुछ सजा हो जाए, मगर क्या उससे आगे से इन परिस्थितियों में काले लोगों का भविष्य में अपमान रुक जाएगा? क्या सदियों से चली आ रही यह आधारहीन दुर्भावना समाप्त हो जाएगी? यहां मोहनदास चौबीस साल की आयु में यह समझ विकसित कर लेते हैं कि बीमारी को समाप्त करने के लिए पहले बीमार को बचाना पड़ता है, फिर व्याधि को जड़-मूल से समाप्त करने का प्रयास किया जाता है। दुर्भाव और विद्वेष की जड़ें जितनी गहरी होंगी, उन्हें उखाड़ने के लिए उतना ही अधिक समय, ऊर्जा और साहस लगाना पड़ेगा। पीटर मारित्ज्बुर्ग का प्रकरण और उसके बाद का गांधी का जीवन मार्टिन लूथर किंग और नेल्सन मंडेला जैसों को प्रभावित कर गया तो क्या यह अपेक्षा नहीं की जा सकती है कि भारत के कुछ नए सांसद, जन प्रतिनिधि और नेता व्यक्ति मात्र बने रहने से ऊंचा उठ कर अपने को व्यक्तित्व में परिवर्तित करने का प्रयास सफलतापूर्वक करेंगे?

अवैध के रास्ते

संतोष उत्सुक

दुनिया मेरे आगे

तीन दशक पहले मकान का निर्माण चल रहा था। एक लिंटर डल चुका था, दूसरे की तैयारी हो रही थी। छत के ऊपर से देखा कि नीचे एक व्यक्ति खड़ा होकर जांच रहा है कि कहीं मकान की छत का बढ़ाव अनधिकृत तो नहीं है! वे सज्जन नगर निगम समिति में कार्यरत निरीक्षक थे, जो अपनी कर्मठता, ईमानदारी और अनुशासन के लिए जाने जाते थे। कुछ भी हो जाए, वे कानून लागू करा कर ही छोड़ते थे। ऐसी प्रवृत्ति के कर्मचारी समाज से लगभग विदा हो चुके हैं। कुछ बचे हैं तो खामोश रहने को विवश हैं क्योंकि स्वार्थ, सत्ता, ताकत और धन के बढ़िया तालमेल ने अवैध अधिकार का तंत्र खूब विकसित कर लिया है। नौकरी के दौरान मेरा पदस्थापन एक शहर में हुआ। परिवार सहित शहर के बीच एक अच्छे मकान में रहने का मौका मिला। उस दौरान परिचित और शहर के नामी वकील कहा करते थे कि अगर आप यह मकान खाली न करें तो आपके मकान मालिक आपको कानूनन निकाल नहीं सकते। मैंने कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि जमीन उनके नाम नहीं है... हां, ईंट-पत्थर, रोड़े, टाइलें, सीमेंट और दरवाजे-खिड़कियां उनकी हैं।

हर सरकार अवैध निर्माण को 'वैध' में तब्दील करने का जुगाड़ करती रहती है। इस संबंध में विपक्ष भी उसके साथ होता है। सरकार अवैध निर्माण को नियमित करवाने का कानून बनाती है। अवैध निर्माण का मुद्दा उठता है। अनेक मामले उच्च न्यायालय में पहुंचते हैं, जहां हमारे कानूनविद नया पेंच फंसा देते हैं। हाइकोर्ट अवैध निर्माण को तोड़ने का हुक्म सुनाता है तो प्रशासन गुर्रा कर हरकत में आता है। ऊंचे ओहदे वाले सरकारी कारिंदों को अवैध निर्माण तुड़वाने का काम करवाने जाना पड़ता है।

लेकिन कौन सरकार नहीं चाहती कि अवैध निर्माण को नियमित करा कर अपना वोट बैंक सलामत रखे। चुनाव के मौसम में रातों-रात अवैध इमारतें खड़ी कर दी जाती हैं। जनता द्वारा चुने हुए सभी स्तर के नुमाइंदे, अवैध निर्माण में दिल खोल कर साथ देते देखे गए हैं। संपन्न और प्रभावशाली तबके ने बांहें पसार कर उनका स्वागत किया है और उपहारस्वरूप अवैध निर्माण उगता रहता है। पार्किंग बनवाने की अनुमति लेकर रिहाइश के लिए कमरे या व्यावसायिक भवन बना दिए जाते हैं। कहीं ये मामले प्रकाश में आते हैं तो सरकारी नोटिस धीरे-धीरे तैयार होकर अवैध निर्माण की ओर आराम से चलना शुरू करता है, लेकिन असली मालिक कई दिन तक नहीं 'मिलते'। कुछ मामलों में बिजली काट दी जाती है फिर 'तरस' खाकर जोड़ दी जाती है। फिर जांच भी कराई जाती है।

मामला घूम फिर कर पार्षदजी के पास चला जाता है। उनके जिस मूल्यवान वोटर से 'गलती' से अवैध निर्माण हो गया है, वे उसका केस अनुभवी हाथों में लेकर जैसे-तैसे कर, रियायती जुर्माना लगवा कर उसे निपटा देने में मदद करते हैं। पार्षद ही नहीं, आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, धार्मिक, व्यावसायिक प्रबंधन कौशल के तहत अवैध निर्माण किया जाता है। कई राज्यों में मंत्रियों द्वारा नदियों पर अवैध कब्जे किए गए हैं।

ज्यादातर लोग गलत काम कराने के लिए राजनीति का सहारा लेते हैं या राजनीति जैसा व्यवसाय शुरू करते हैं। कानून बनाने वाले और रखवाले ही बेहतर निष्ठा से कानून से बचने का रास्ता दिखाते हैं। अवैध निर्माण करने वालों को पूरा भरोसा होता है, तभी वे डरते नहीं। लाखों का फायदा निगल कर हजारों का जुर्माना आराम से उगलने के लिए तत्पर रहते हैं। प्रशासन कानून का डंडा चलाता है तो विरोध होता है। कार्रवाई कभी सफल होती ही है। लेकिन कई जगह कुछ परोक्ष कारणों से रोकनी पड़ती है। वे कारण सब जानते हैं, लेकिन 'हमें क्या लेना' के मौसम में चुप रहते हैं।

शहरी इलाकों में जहां टीसीपी लागू है, वहां पार्षद या अन्य नुमाइंदे और ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायत के नुमाइंदे चाहें तो अवैध निर्माण हो ही नहीं सकता। लेकिन यहां तो ऐसी गंगा बह रही है, जिसमें ज्यादातर लोग हाथ धोना चाहते हैं, कुछ तो नहाते भी हैं। ये लोग भूकम्प की दृष्टि से संवेदनशील होने के बावजूद टीसीपी नियमों की खुली अनदेखी करते हैं। भूल जाते हैं कि पार्किंग समस्या बढ़ रही है। निर्माण करवाने वाले व्यक्ति का फर्ज है कि वह वैधता की सीमाओं का पालन करे। उन्हें यह ध्यान रहे कि कभी अवैध निर्माण टूटा तो ईमानदारी और मेहनत के पैसे से खरीदा गया सीमेंट, ईंटें, सरिया, रेत और मजदूरी के लिए भुगतान किया धन व्यर्थ जाएगा। लेकिन सामाजिक व्यवस्था का बढ़ता जंग उसे प्रेरित नहीं करता।

इस संबंध में जमीनी स्तर पर कार्यरत सरकारी कर्मचारी और चुने हुए राजनीतिक प्रतिनिधियों का कर्तव्य है कि नियमानुसार निर्माण कार्य के संबंध में अपनी जिम्मेदारी निभाएं। सवाल है कि जब निर्माण शुरू होता है, तब नियमित सरकारी निरीक्षण क्यों नहीं किया जाता! सरकारी कर्मचारी की कमी आड़े आती है। जो हैं, उनका काफी समय बैठकों में बैठे-बैठे बीत जाता है। इस मामले में पार्षद पूरा सहयोग कर सकते हैं। वे अपने वार्ड के चप्पे-चप्पे से वाकिफ होते हैं। पूरी जिम्मेदारी कर्मचारियों की है, तो आधी जिम्मेदारी जनप्रतिनिधि की भी होनी ही चाहिए।

प्रकृति के साथ

इन दिनों गर्मी के साथ चुनावी पारा भी खूब चढ़ा हुआ है जिसने आम जनमानस को तपा दिया है। जल, वन और जीवन का सहसंबंध चुनाव में कुछ इस कदर स्थापित होता है कि यदि जनता खुश तो जनप्रतिनिधियों के सूखते गले में मत रूपी जल डाल कर उनके राजनीतिक जीवन की रक्षा कर देती है, नहीं तो उनका 'अपना टाइम आएगा कह कर' वनवास तो बनता है!

आरंभिक मानव के अस्तित्ववाद की अवधारणा प्रकृति से ही जन्मी है, और मानव सभ्यता का विकास नदियों के तटों पर ही हुआ है। यही कारण है कि आदिकाल में मानव ने खुद का प्रकृतिकरण किया था जो प्रकृति के प्रति मानव की कृतज्ञता का परिचायक था। विश्व की किसी भी संस्कृति में प्रकृति का इतना आदर नहीं हुआ होगा जितना कि भारतीय संस्कृति में। यहां प्रकृति को मां की संज्ञा दी गई है। हमने धरती मां को प्रणाम करके सुबह की शुरुआत की है, तदोपरांत सूर्य नमस्कार, गोसेवा, जल प्रणाम और स्नान-ध्यान, पीपल-बरगद-तुलसी आदि में भगवान का वास मान कर सूर्य के सम्मुख जल दिया है। हमने भोजन को प्रणाम कर भोजन मंत्र, यहां तक कि पूर्वजों ने पुस्तक और पाठशाला प्रांगण तक में भगवान का वास बता कर जिस वैज्ञानिक सोच को व्यावहारिक रूप में स्थापित किया है उसे कोई भी पर्यावरण प्रेमी सामान्यतः महसूस कर सकता है।

हमने प्रकृति के सभी सहसंबंधियों को आदर एवं सहअस्तित्व की भावना से देखा है। जल और वन हमारे पर्यावरण की जीवन रेखा हैं और पर्यावरण के बलबूते बचा है हमारा अस्तित्व। लेकिन आज पर्यावरण पर हर तरफ मंडराते खतरों से निपटने की अपेक्षित तैयारियों का सर्वथा अभाव हर तरफ नजर आ रहा है। हमें अपनी पर्यावरण रूपी जीवन रेखा की हर हाल में हिफाजत करनी ही होगी।

● *रविसुता पुत्र ऋषभ, रीवा, मध्यप्रदेश*

इनकी जिम्मेदारी

हमारे नेता भले ही अपने फायदे के लिए चुनावी वादे करके भूल जाते हों लेकिन मतदाता पांच साल में कभी नहीं भूलते कि अपने मताधिकार का प्रयोग कब करना है। इसीलिए आम चुनाव के महात्योहार में मतदाता बड़े हर्ष से अपनी जिम्मेदारी निभाता नजर आता है। इसका एक उदाहरण यह है कि 40 डिग्री सेल्सियस की भीषण गर्मी में भी मतदाता लंबी लाइन में लग कर अपने मताधिकार का प्रयोग करता है। इसके विपरीत नेता चुनाव जीतने के बाद अपने वादों को पांच साल में एक भी दिन याद नहीं करते और अपनी जिम्मेदारी को भूल जाते हैं। इसलिए मतदाता की तरह नेताओं को भी अपनी जिम्मेदारी याद रखनी चाहिए।

● *शिवेंद्र सिंह, नोएडा*

सुरक्षा का तकाजा

केरल की मुसलिम एजुकेशनल सोसायटी (एमइएस) ने अपने सभी शिक्षण संस्थानों में बुर्के, नकाब समेत चेहरे को ढकने वाले सभी पहनावों पर प्रतिबंध लगा दिया है। विश्व के कई देशों में आतंकवादियों द्वारा बुर्के का इस्तेमाल बम विस्फोटों को अंजाम देने के लिए किया जाता है। यह भारत जैसे देश में सुरक्षा से जुड़ा एक बहुत बड़ा मामला है। श्रीलंका में हाल ही में ईस्टर के मौके पर तीन चर्चों और तीन होटलों में आत्मघाती हमले हुए जिनमें 253 मासूम लोगों की जान चली गई और 500 से ज्यादा घायल हुए। इसी को देखते हुए श्रीलंका ने अपने यहां बुर्के पर पाबंदी लगा दी है इसलिए भारत में एमइएस के अध्यक्ष पीके फजल गफूर जैसे प्रगतिशील और साहसिक लोगों की जरूरत है।

वैसे यह बात खुद इस्लाम को मानने वालों को सोचनी चाहिए कि यदि कोई आतंकवादी संगठन इस्लामी पहनावे का प्रयोग करता है तो हम स्वयं आधुनिकता और उदारता का परिचय देते हुए बुर्के/नकाब को प्रतिबंधित करें। जम्मू और कश्मीर में सेना की वर्दी पहने होने के कारण आम नागरिकों और आतंकवादियों के बीच अंतर करना हमारे सुरक्षा बलों के लिए बहुत मुश्किल होता है। इसका लाभ उठाकर आतंकवादियों ने पठानकोट और उरी जैसी आतंकी घटनाओं को अंजाम दिया है। इनमें हमारे अनेक बहादुर जवान शहीद हो गए। इसके मद्देनजर मुसलिम संगठनों को खुद ब खुद आगे आकर सरकार व सुरक्षा एजेंसियों की मदद करनी चाहिए न कि इसे धार्मिक आजादी या मुसलिम समाज के विरुद्ध गतिविधि के रूप में देखना चाहिए। यह भी सच है कि मुसलमानों की राजनीति करने वाले कुछ संगठन या नेता इसका विरोध करेंगे लेकिन मुसलिम समाज के ही प्रगतिशील सोच के लोगों को बाहर निकल कर इन पक्षों को भी रखना चाहिए।

● *कन्हैया लाल पांडेय, नरेला, दिल्ली*

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

दाखिले में आरक्षण

केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (सीबीएसइ) की परीक्षा के परिणाम आ चुके हैं। इसमें निजी और सरकारी दोनों ही स्कूलों के छात्रों ने अच्छा प्रदर्शन किया। जहां एक तरफ छात्रों को अच्छे अंक आने की खुशी है, वहीं दूसरी ओर दिल्ली विश्वविद्यालय की ऊंची 'कटऑफ' के डर ने भी उन्हें सताना शुरू कर दिया होगा। आशंका जताई जा रही है कि इस बार दिल्ली विश्वविद्यालय के कॉलेज अपनी कटऑफ पिछली बार से भी ऊंची रख सकते हैं। यह सामान्य श्रेणी के छात्रों के लिए चिंता का विषय है क्योंकि जहां सामान्य श्रेणी के छात्र को पहली कटऑफ में 95 फीसद अंकों पर दाखिल मिलता है वहीं कोटा या आरक्षण के दायरे वाले छात्र को 90 फीसद अंकों पर आराम से दाखिला मिल जाता है। कुछ पाठ्यक्रम या कोर्स ऐसे होते हैं जिनमें सामान्य श्रेणी के छात्रों के दाखिले महज दो या तीन कटऑफ में बंद हो जाते हैं। वहीं बाकी छात्रों के दाखिले पांचवीं से सातवीं कटऑफ तक आराम से होते हैं। उत्तर और दक्षिण परिसर के नामी-गिरामी कॉलेजों में सामान्य श्रेणी के छात्रों का दाखिला बेहद मुश्किल से हो पाता है और इन कॉलेजों में उनके पढ़ने का सपना सपना ही रह जाता है। इतना ही नहीं, आरक्षण के लिए कुछ छात्र फर्जी सर्टीफिकेट भी बना लेते हैं जिसके कारण काबिल और मेहनती छात्र अपने पसंदीदा कॉलेज या पाठ्यक्रम में दाखिला नहीं ले पाते।

आजादी के सात दशक बाद भी आरक्षण को केंद्र बना कर छात्रों को दाखिले दिए जा रहे हैं। आरक्षण को समानता लाने के लिए लागू किया गया था। लेकिन आज देखा जाए तो शिक्षा क्षेत्र में इसने विपरीत कार्य किया है। आरक्षण के जरिए आजादी के सात दशक बाद भी हम समानता नहीं ला पाए। यह कहीं न कहीं हमारी शिक्षा व्यवस्था पर सवाल खड़े करता है।

● *निशांत रावत, दिल्ली विश्वविद्यालय*